UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180989

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H81·6|S61R Accession No G.H.2281
Author सिंह, ओम्मनाथ |
Title रूप-रश्मि | १९५१
This book should be returned on or before the date last marked below.

रूप-रश्मि

★

प्रकाशक

साधना-मन्दिर

काशी

★

शम्भूनाथसिंह

प्रकाशक
साधना-मन्दिर
जगतगंज, काशी ।

प्रथम संस्करण
मार्च १९४१

मूल्य १)

मुद्रक
श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस,
बनारस कैन्ट ।

स्वर्गता बहिन
सरस्वती
को

बहिन !

मृत्यु-शय्या पास तेरी. है अँधेरी रात !
विकल तन-मन, विकल यह उर,
विकल जीवन-प्रान
विकल मेरे नयनके कण,
विकल उर के गान
सजल अन्तर और बाहर रो रही बरसात !

मर गया है विश्व, जीवित
एक काली रात
ले रहे हैं साँस अन्तिम
और पीपल - पात
आज आयी रात वह, होगा न जिसका प्रात !

खोजते हैं, किन्तु पाते
शून्य को ही हाथ
सोचता हूँ, क्यों न हूँ मैं
भी तुम्हारे साथ
और तब होता हृदय पर है प्रबल आघात !

भेद यह तम पा सका यदि
मैं तुम्हें इस बार
फिर न आने को कहूँगा
लौट जग के द्वार
किन्तु इस क्षण तो बना मैं स्वयं ही तमसात्!
मृत्यु-शय्या पास तेरी, है अँधेरी रात!

★

प्रकाशकीय

साधना-मन्दिर के संचालक, हिन्दी के उदीयमान तरुण कवि श्रीशम्भूनाथसिंह की कविताओं का संग्रह प्रकाशित करके गर्व का अनुभव कर रहे हैं। मन्दिर का उद्देश्य है हिन्दी के उन रत्नों को प्रकाश में लाना जो कला के मौन साधक हैं और जो समाज की उपेक्षा-वृत्ति की ओर जरा भी ध्यान न देकर सतत अपनी साधना में लीन रहते हैं। मन्दिर के शक्ति-साधन सीमित हैं पर संचालकों को इसी बात का सन्तोष है कि नयी पीढ़ी के इन लेखकों का साहित्य नवयुवक समाज में बहुत ही प्रिय है और उसी के बल पर यह दुस्तर कार्य भी उन्होंने अपने हाथ में लिया है। यदि देश के अन्यान्य स्थानों में भी इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर लोक-कल्याणार्थ आदर्श प्रकाशन संस्थाएँ स्थापित हों तो मन्दिर उनके साथ सहयोग करेगा। आशा है, जनता मन्दिर के प्रकाशनों को अधिक से अधिक अपनायेगी और इस प्रकार साहित्य के प्रचार एवं समाज की मनोवृत्ति के परिष्कार में हाथ बटायेगी।

एक बात और : श्रीशम्भूनाथसिंह की रचनाएँ अभी हाल तक 'रसिक' उपनाम से प्रकाशित होती रही हैं। अब उन्होंने वह नाम त्याग दिया है। परिचित पाठक भ्रम में न पड़ें, अतः इतना लिखना आवश्यक था।

—प्रकाशक

अपनी बात—

'रूप-रश्मि' आपके सामने है। यह मेरी प्रथम कृति है। अच्छी है या बुरी, यह मैं कैसे कहूँ ? यदि यह आपको पसन्द आयी तो मुझे सन्तोष ; नहीं, तो भी सन्तोष। दोनों ही दशाओं से मुझे प्रेरणा मिलेगी।

कुछ शब्द भूमिका के बारे में। प्रकाशकों की राय हुई कि भूमिका मेरी ही भाव-भूमि के किसी व्यक्ति से लिखायी जाय और व्यक्तित्व की महिमा के आकर्षण से तटस्थ रहा जाय।

अतः इसके आमुख के स्थान पर मेरे मित्र त्रिलोचनजी का एक पत्र जो उन्होंने 'रूप-रश्मि', की पाण्डुलिपि पढ़ने के बाद लिखा था, प्रस्तुत किया जा रहा है।

और, 'रूप-रश्मि' को लेटरिंग का वरदान मेरे कलाप्राण मित्र श्री शमशेरबहादुरसिंह ने दिया है।

—शम्भूनाथसिंह

एक पत्र

बन्धु,

आनन्द-पूर्वक मैंने 'रूप-रश्मि' को पढ़ा। जिस उत्साह से मैंने पढ़ना आरम्भ किया वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ तक पहुँचते न पहुँचते मैंने अपने को एक स्वस्थ भाव-जगत् में अनुभव किया। किसी भी रचना की सफलता का रहस्य यही है कि वह अपने पाठक को रुचि का अनुसरण करने में कितनी समर्थ है। 'रूप-रश्मि' के अन्तर्लोक का परिचय-लाभ कर मैंने अपने को विशेष रूप से तृप्त पाया।

जैसे वर्तमान जीवन सभ्यता के अनेक अलंकारों से परिच्छिन्न और अस्वस्थ है वैसे ही वर्तमान कला। कितने ही सांप्रतिक अनर्थों के भार से जीवन का अर्थ लुप्त हो चला है और उसके स्थान पर बहु रूप-रंग में कृत्रिम और चिन्ता-शून्य वाणी-व्यापार का बाज़ार गर्म है। ऐहिक ऐश्वर्य की साधना के लिए जिस प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता अपरिहार्य है उसी प्रकार मनोविकास के लिए जीवन के सामञ्जस्य की स्थापना।

जीवन के परिपूर्ण विकास के लिए जन-समष्टि का उद्बोधन आवश्यक है क्योंकि भावी जीवन की रूप-कल्पना वहीं पर सुनिश्चित स्वरूप प्राप्त करती है। जिस नवीन दिशा में वर्तमान युग पद-न्यास कर रहा है उसका बहुत कुछ हेतु तरुण-समाज है। जहाँ-जहाँ इन सब की गति-प्रवृत्ति हुई वहाँ-वहाँ एक नये चमत्कार की प्रणोदना हुई। अभी हमारी यह वृत्ति आदिम अवस्था में है और अभी उसे विकास के लिए—शक्ति के लिए—पर-निर्भर रहना पड़ता है।

जीवन की भावात्मक अभिव्यंजनाएँ कला के इतर क्षेत्रों की अपेक्षा काव्य में अधिक मूर्त्त हुई। इसका कारण यह है कि आदि-काल से ही मनुष्य ने अपने भावों का सजीव और अमर संदेश वहन करके एक युग से दूसरे युग तक पहुँचाने में काव्य को ही अधिक

सशक्त पाया, फलतः काव्य का आसन सर्वोच्च माना गया।

प्रारम्भ से लेकर आज तक काव्य में कितनी ही प्रवृत्तियाँ, कितने ही वाद आये और गये परन्तु उसकी आत्मा जैसी आदि-काल में थी वैसी ही अब भी। उसके द्वारा तब जो काम होता था वही अब भी।

जो सौन्दर्य-सत्ता धरती से लेकर आकाश तक व्याप्त है, जिसकी ज्योति कण-कण में तेज और महिमा का समावेश कर रही है, जिसकी अमूर्त लहरें जड़ चेतन को समान भाव से वरण करती हैं, जिसकी परिमा में जीवन का प्रारम्भ और विकास हुआ उसकी उपेक्षा कोई संवेदनशील और भावपूर्ण हृदय नहीं कर सकता। इस परम तत्त्व में वह प्रेरणा केन्द्रीभूत है जिसके प्रश्रय में जीवन की सम्पूर्ण शक्ति, क्रियाशीलता और प्रवृत्ति है जब वह सामान्य व्यक्ति के हृदय को भी आकर्षित करती है तब कवि का तो कहना ही क्या! वे तो उसकी ममता की परिधि के स्वजन ठहरे।

धरती के ऊपर, आकाश की छाया में, जब मनुष्य स्वस्थ मन से प्राणवायु को ग्रहण करते हुए अपने परिचय की परिधि का अधिक से अधिक प्रसार करने की पीड़ा का अनुभव करता है तब समग्र जड़-चेतन प्रकृति अपने स्वाभाविक भाव और सौन्दर्य की महिमा का अवतार उसके हृदय में स्वयमेव करती है और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति वाणी को अपना वाहन स्वीकार करती है। और कविता का जन्म होता है।

कविता-ज्ञान की विविध परम्पराओं को अंगीकार करके भी अपने व्यक्तित्व से अलग नहीं होती। इसी कारण दर्शन और इतिहास को अपने सहयोग में रखकर भी वह तदाकार नहीं होती। ज्ञान की अन्यान्य शाखाओं में और कविता में मुख्य भेद यह है कि ज्ञान बुद्धि की चिन्ता रखता है और कविता हृदय की। अन्य सभी भाव-प्रकाशन के साधनों

की अपेक्षा कविता जो अधिक महिमामयी हुई उसका प्रमुख कारण यह है कि जब वह जीवन को समझना चाहती है तो उसकी संगिनी बन जाती है। ज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रकृति को छोड़कर वह संश्लेषणात्मक प्रकृति को ग्रहण करती है एवं विषय प्रतिपादन के अवसर पर वह तटस्थ-वृत्ति की अपेक्षा तन्मय-वृत्ति को ही महत्त्व देती है।

परम्परा का ध्यान रखते हुए भी काव्य पुरातन की पुनरावृत्ति की पदवी को नहीं ग्रहण करता। यही कारण है कि उसका जीवन-सम्बन्ध गतिशील सामान्य जीवन से अविच्छेद्य है।

इस प्रकार 'रूप-रश्मि' को पढ़ते समय उपर्युक्त विचारों की सापेक्ष्यता में मुझे नवीनता का आभास मिला।

'रूप-रश्मि' की भाव-भूमि पर पहुँचकर जो कुछ देखने में आता है वह बहुत कुछ मौलिक, स्वस्थ और सुन्दर है। इसमें पूर्व प्रवृत्तियों का यथारूप ग्रहण कहीं नहीं है। जो कुछ भाव प्रदर्शित हैं वे अपनी सौन्दर्य परिधि के भीतर।

'रूप-रश्मि' का कवि जिस विषय पर कविता करता है उसपर अपने प्रभाव का रंग चढ़ा देता है। किसी वस्तु-विषय को वह जैसा कुछ अपने हृदय में अनुभव करता है वैसा ही वह प्रस्तुत करता है। जीवन की आशा-निराशा, विजय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि अवस्थाओं का जैसा चित्र वह अपने में और अपनी परिस्थिति में देखता है उसे निर्व्याज अंकित करता है।

वर्तमान काव्य-प्रवृत्ति में जो विचार मूल कारण हैं उनकी सत्ता 'रूप-रश्मि' में भी है। भेद इतना विशेष है कि समष्टि-रूप से इसमें वर्तमान वादों के प्रति कोई आग्रह नहीं है। कवि की प्रवृत्ति व्यक्ति की अपेक्षा समाज का सम्मान विशेष करती है और उसे व्यक्ति का समाज—संसार—(अग-जग) के लिए आत्मोत्सर्ग प्रेय है—

हँस अग-जग में सुहास

भर सुहासिनी !
ओ पवासिनी !

'रूप-रश्मि' का कवि जग-जीवन की उलझनों को सुलझाने में व्यस्त है ; वह उनसे पलायन नहीं करता—

मैं सुलझाने में व्यस्त कठिन
जो जग-जीवन की उलझन है।

प्रारम्भ से ही कितने ही मनीषी और कवि जीवन की और उसके आधारभूत तत्वों की परिभाषा करने में प्रयत्नशील रहे हैं लेकिन जीवन परिभाषा की सर्वसम्मत नियति में नहीं आया। प्रयत्न अब भी चल रहे हैं। 'रूप-रश्मि' का कवि आत्म-विश्वास पूर्वक कहता है—

मैं नये सिरे से सीख रहा
जीवन की महती परिभाषा

प्रेम के पावन गीतों से 'रूप-रश्मि'—सौन्दर्य की आत्मा—रूप की किरण—बन गई है। उसके प्रकाश में कवि की अतुल और अपूर्व भाव-राशि अत्यन्त मार्मिक और रस-निष्पत्ति सहज सफल हुई है। कुछ पंक्तियाँ—

युग-युग की ज्वाला हाय, बना
वह प्रथम-प्रथम मिल पाना ही !

★ ★

एक क्षण का मधुर दर्शन
नयन-घट की स्निग्ध छलकन
युगल उर में युगल जीवन--
मिलन का बन्धन अमर हो !

इसमें स्थान-स्थान पर प्रकृति की झाँकियाँ आत्मीयता पूर्वक चित्र-कल्पना को शब्दों के उपादान से मूर्त करती हैं—

उलझ सन्ध्या के चरण से
जब फटा उस ओर बादल
कूद आई रन्ध्र से रंगीन
रवि की किरण चंचल

बन गया रवि का सुनहरा
जलद सिंहासन मनोहर

हो गया रवि-सान्ध्यवेला
का सजल अभिसार दो पल
हास-धारा विश्व बीच
बहा गयी लो मेघमाला

'रूप-रश्मि' में दर्शन है, उतना ही जितने की अपरिहार्य आवश्यकता है। दर्शन में भारतीय परम्परा की प्रधानता स्वीकृत करके कविता की अभिव्यक्ति में मनोरम और आकर्षक रूप-विधान संयोजित किये गये हैं---

बहते जाते गलकर प्रतिक्षण
इन नयनों के पागल हिमकण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ ?
मनमोहन कोई हो भी तो !

जिस भाव-निमल जिज्ञासा की अभिव्यजना उद्धृत पद में है वह आदि-काल की इस भाव-प्राण जिज्ञासा का साम्प्रतिक देश, काल और वस्तु की सीमा में सहज सुन्दर परिणाम है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्

सदाधार पृथिवीद्यामुते मां
कस्मै देवाय हविषा विधेम !

★ ★ ★

मत रुको, हमें बस चलना है
मत भूलो, दुनिया छलना है

हम चलें क्योंकिरुकना ही मृत्यु और चलना ही है जीवन !

यह पद अपनी परिणति में जाकर इस पद से जीवन के तत्त्व ग्रहण करता है—

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् !
चरैवेति ! चरैवेति !

इस प्रकार सम्पूर्णता में 'रूप-रश्मि' जीवन की महिमा को स्वीकार करती है। 'सोऽयं कलामयो पुरुषः' की दृष्टि से ही 'रूप-रश्मि' का काव्य-पुरुष—जीवन—कलामय है ।

जिस प्राण—जीवन—की महत्ता से भारतवर्ष की आदियुगीन कृतियाँ ओतप्रोत हैं उसी का अनुसरण इसमें भी है।

आधुनिक दृष्टि से काव्य के माध्यम से जीवन को समझने और उन्मेषपूर्ण करने के लिए जो साधना समूह के हृदय से उच्छ्वसित हो रही है 'रूप-रश्मि' उसी का एक सर्ग है।

इसमें जिस गति का प्रकाश है वह लोक-संग्रह की प्रवृत्ति से विकीरित है । 'रूप-रश्मि' में अपूर्णता है लेकिन उस उत्साह और आन्तरिक शक्ति का आवेग भी है जिससे अपूर्णता का तिरोधान हो जाता है।

—त्रिलोचन

गीत-सूची

अनुक्रम	गीत	पृष्ठ संख्या
१	ओ प्रवासिनी !	१
२	जीवन को शीतल कर दो	४
३	स्वप्न में भी तुम न आये	६
४	अब मैं अपने से हार गया	८
५	मेरे मन कोई हो भी तो !	१०
६	मैं विजय के गान सा हूँ	१२
७	अपने उर का भार उतारूँ...	१४
८	कब तुमको प्रिय पहिचाना ही	१६
९	साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन	१८
१०	आज मधु की रात आई	२०
११	मन बहलाया मैंने सुन्दर	२२
१२	आँखों को आज सँभाला तो	२४
१३	यह न जाने क्या नयन में !	२६
१४	रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो !	२८
१५	ओ गगन के एक तारे !	३०
१६	लो, वारुणी को मोल लो	३२
१७	जी रहा हूँ, बस यही है...	३४
१८	ढूढ़ता पथ मैं विजन में	३७
१९	कोई तम में मुसकाता है	३९
२०	आह, मैं गा भी न पाता !	४०
२१	दो तम का पारावार मुझे	४२
२२	अब न दुख के गान भी हैं	४४
२३	क्या सुखों को सह सकोगे ?	४६
२४	मान जा, तू मौन हो जा !	४७
२५	तब मैं मुसका भर देता हूँ !	४९

अनुक्रम	गीत	पृष्ठ संख्या
२६	जाऊँगा कहाँ मैं भाग !	५०
२७	थक गया अब यह व्यथा का—	५२
२८	मैं अपने में रह न सकूँगा	५४
२९	नयन में हों अश्रु मेरे	५६
३०	वेदनाओं से बना है	५८
३१	करुण अलि शृंगार	५९
३२	मै करुण संगीत क्या मेरी कहानी !	६१
३३	यह हृदय की प्यास	६३
३४	री गगन वाले, अरी घन सुन्दरी !	६५
३५	अश्रु में तुम कौन मेरे !	६७
३६	पाया तुमको प्रिय पाया	६९
३७	जीवन एक है अभिशाप	७१
३८	यह मूक व्यथा, यह मौन गान !	७३
३९	वाणी दो मुझको वाणी दो,	७४
४०	आशा है एक निराशा में	७५
४१	मैं अपने पथ पर चलता हूँ	७६
४२	निज अभिशापों को प्यार किया	७७
४३	प्रिय यह पथ में क्यों यह विचार	७८
४४	तू तरी बही चल मेरी	७९
४५	मेघमाला	८०
४६	भिखारिणी	८५
४७	शिशु-प्यार मेरा—	८९
४८	मेरा यौवन	९१
४९	अतीत	९४
५०	तुम जान न पाओगी सुन्दरि,	९७
५१	कृषक-वधू	१०२

रूप-रश्मि

ओ प्रवासिनी !
ओ मधुमयि रूपरश्मि !
मधु-विलासिनी !

क्षितिज-लीन रवि के
कर - पंख से घिरी
एक जलद-पट पर
तुम नर्तिता परी
क्षण में क्यों बनी हाय,
तम निवासिनी !
ओ प्रवासिनी !

सजल विरह के पल में
ओ विरागिनी !
भीगे बन - उपवन
ले करुण रागिनी ।
हँस अग-जग में सुहास
भर सुहासिनी !
ओ प्रवासिनी !

जागो जुगनू सी
इस तिमिर भवन में
एक अग्नि - रेखा—
चपला-सी घन में !
उड़ लघु पंखों पर
उतरो प्रभासिनी !
ओ प्रवासिनी !

प्रणय सा मधुर तव
संगीत किन्नरी,—
दूरागत पा कर
भीगे विभावरी

पूर्णिमा अमा को
कर तम-विनाशिनी !
ओ प्रवासिनी !

तेरा प्रिय शलभ-बाल
स्वप्न – गात री !—
तिमिर नीड़ में तपता
स्नेह - स्नात री !
जल कर जी जाए,
चमको प्रकाशिनी !
ओ प्रवासिनी !

●

२

जीवन को शीतल कर दो !
प्राणों में गुञ्जन भर दो !

मेरे जीवन - धन प्यारे !
कब तक उड़ता जाऊँ नभ-पथ—
पर अपने पंख पसारे !
कब तक चूँगूँ अंगारे !
जलने का अब मत वर दो !
(प्रिय) जीवन को शीतल कर दो !
प्राणों में गुञ्जन भर दो !

धूमा मैं उन्मन - उन्मन,
गिरि-बन-पथ पर, नभ के उर में
अग-जग के आँगन-आँगन,
जिज्ञासा का जुगनू बन,
अब अपना स्नेह अमर दो !
(प्रिय) जीवन को शीतल कर दो !
प्राणों में गुञ्जन भर दो !

रस-मय हो मरु का आँगन,
हे सजल बटोही नभ के मेरे,
कर दो अब मधु-वर्षण
जिस से लहराये जीवन!
अपनी मधु स्मिति सत्वर दो!
(प्रिय) जीवन को शीतल कर दो!
प्राणों में गुञ्जन भर दो!

छा जाओ द्रुम-द्रुम, बन-बन,
मधुपों में बन मधु-प्यास विकल,
कलियों में बन मधु-यौवन,
मधुऋतु, बरसाओ मधु-कन,
मुझको भी पिक का स्वर दो!
(प्रिय) जीवन को शीतल कर दो!
प्राणों में गुञ्जन भर दो!

●

३

स्वप्न में भी तुम न आये !
प्राण, तुम को निज हृदय के
गान से मैंने पुकारा
अभु से, मन की व्यथा से,
मान से मैंने पुकारा !
किन्तु उर के, प्राण के
क्रन्दन सुने भी, तुम न आये !
स्वप्न में भी तुम न आये !

देखना ही चाहता था
नयन भर तुम को प्रवासी !
साधना में इस, जली काया
सतत दीपक-शिखा सी,
आज तक पर आह, पलभर—
के लिए भी तुम न आये !
स्वप्न में भी तुम न आये !

आज तक जीवन-निशा में
मैं चला ले एक आशा
और अब भी चल रहा, ले
तृषित उर की चिर पिपासा—
किन्तु उर के द्वार मेरे
भूल से भी तुम न आये !
स्वप्न में भी तुम न आये !

●

४

अब मैं अपने से हार गया !
जब बेहोशी में अधर चूम
सागर लहरों का जीता हूँ
जीने के डर से कम्पित-उर
जब सुधा छोड़ विष पीता हूँ
कह दूँ इसको जीवन क्यों, जब
हँस मरने का व्यापार गया !
अब मैं अपने से हार गया !

जब बहुत किया, पर रुक न सका
निज पथ में रोड़े अटकाना,
कर बाँधे, कर मलना छूटा
पर रुका न मन का पछताना
तब मैंने जाना, मेरा यह
सारा जीवन बेकार गया!
अब मैं अपने से हार गया!

बाँधी थी तुमने दुर्बलता—
से मेरी मिट्टी की काया,
कब तक लड़ता तम के आँधी-
पानी से, अब मैं घबराया,
जिसके बल पर मैं चलता था
अब बुझ वह भी अंगार गया!
अब मैं अपने से हार गया!

५

मेरे मन, कोई हो भी तो!

मेरे यौवन के प्याला में
मेरी जीवन-मधुशाला में
जागेगा कौन ? अरे भोले,

चिर-यौवन कोई हो भी तो!
मेरे मन, कोई हो भी तो!

मैं दीपक बन जलता प्रतिपल
निज ज्वाला से भर-भर अंचल
उर शीतल कौन करे मेरा ?

चिर-चन्दन कोई हो भी तो!
मेरे मन, कोई हो भी तो!

मेरे अन्तर के राग ललक
अकुलाकर उठते छलक-छलक
मैं युग-युग किस में लय होऊँ !
चिर-जीवन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

है छलक रहा मेरा चुम्बन
अँगड़ाई लेता उर-स्पन्दन
मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ !
चिर-बन्धन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

बहते जाते गलकर प्रति क्षण
इन नयनों के पागल हिमकण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ !
मनमोहन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

●

६

मैं विजन के गान सा हूँ!
विश्व में हूँ, किन्तु मुझको
कौन प्रिय, पहचानता है!
है रुदन से सिक्त मेरा
हास, कब जग जानता है!
सरस मेरा रूप है पर
हृदय से वीरान सा हूँ!
मैं विजन के गान सा हूँ!

मैं सिसकता, लोग कहते,
है मधुर मेरी कहानी
मैं तड़पता, जग समझता,
है सफल मेरी जवानी
कौन समझे, मैं भँवर में
डूबते जलयान सा हूँ!
मैं विजन के गान सा हूँ!

है अमर मेरे हृदय की
यह सतत जलती पिपासा,
हाय सागर के हृदय में—
भी बसा, मैं आज प्यासा !

मैं अमर अभिशाप, जग
कहता कि मैं वरदान सा हूँ !
मैं विजन के गान सा हूँ !

हो रहा जग से विदा था
रोक बरबस नयन-हिम-कण
घन तिमिर, ध्रुव देखता था
बन निशा का अचल लोचन

मैं न रोता, जग न यदि
कहता कि मैं मुसकान सा हूँ !
मैं विजन के गान सा हूँ !

७

अपने उर का भार उतारूँ
मैं किसके जीवन में !

करुण-करुण मेरी परिभाषा,
मधुर-मधुर इस मन की आशा,
पर धूमिल सन्ध्या बिखरी इस
दोपहरी – यौवन में !

इन नयनों का नीरव क्रन्दन
इस बन्दी जीवन की तड़पन—
विकल-विकल ये क्या जानूँ मैं,
किस अव्यक्त बन्धन में !

मचल रहा यौवन अलसाया
सपनों ने मन को भरमाया,
भूलूँ मैं खोकर अपनापन—
किस भोली चितवन में !

रोम-रोम से दुख की धारा
फूट रही है, कहाँ किनारा !
बरस पड़ूँ घन मैं घिर-घिर—
किसके प्यासे आँगन में !

८

कब तुम को प्रिय, पहचाना ही !

तुम उतरे कहाँ कहानी में !
मेरे नयनों के पानी में
कैसे तुमको सीमित करता
मेरे असीम, निज बानी में !

तेरी प्रतिमा पूजी, कब तेरे
उर-स्पन्दन को जाना ही !
कब तुम को प्रिय, पहचाना ही !

फूटे नव छन्द, मिली भाषा,
उर में लहराई नव आशा,
पर बाँध न पाया मैं तुमको
अज्ञात तुम्हारी परिभाषा !

मैंने न कभी तुम को जाना
बस उर में तुम को माना ही !
कब तुम को प्रिय, पहचाना ही !

तुम में लय हों वे प्राण कहा !
तुम तक पहुँचें वे गान कहाँ !
प्रिय, तुम विस्तृत सागर, मुझ जल-
कण को तेरी पहिचान कहाँ !
यह छन्द हृदय का क्रन्दन भी,
मत समझो इसको गाना ही !
कब तुम को प्रिय, पहचाना ही !

हँसना भी अब क्रन्दन ही है !
जलना भी तो जीवन ही है !
मेरे जीवन, यों दूर-दूर
बसना भी तो बन्धन ही है
युग-युग की ज्वाला हाय, बना
वह प्रथम-प्रथम मिल पाना ही !
कब तुम को प्रिय, पहचाना ही !

●

६

साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन!

राह चलते आह, रुक जाता कहीं मैं,
झाँकने उर-लोक झुक जाता कहीं मैं,
रोक पाता पर न अपने लोचनों को,
बरस पड़ते जब किसी के आर्द्र लोचन!
साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन!

मैं किसी का भार उर का बाँट लेता,
मैं किसी के कष्ट-बन्धन काट देता,
रोक पाता पर न मैं निज बाहुओं को—
बाँध लेते जब किसी के बाहु-बन्धन!
साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन!

मैं नहीं यह जानता क्या है तपस्या,
मैं न कुछ पहचानता जग की समस्या,
रोक पाता पर न निज को कूदने से—
कूद पड़ते आग में जब तरुण जग-जन !
साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन !

चाहता कब प्रकृति का अनुवाद करना !
चाहता कब शब्द में रस-प्राण भरना !
रोक पाता पर न मैं अभिव्यक्ति-वाणी—
भाव जब घिरते यहाँ साकार घन बन !
साधना मेरी चिरन्तन है चिरन्तन !

१०

आज मधु की रात आई !
रह गया कंकाल ही जब
आज उपवन की निशानी
और मुखरित हो उठी
जीवन-चिता की अग्नि-वानी—
आज तब पतझार में—
मेरे, मलय की वात आई !
आज मधु की रात आई !

धुल गई जब प्यास-ज्वाला
की शिखा से यह जवानी
बन गया जीवन निराशा
की अधूरी सी कहानी,
आज मरु के द्वार तब
भूली हुई बरसात आई!
आज मधु की रात आई!

साधना की डगर में जब
सजल - जीवन - स्रोत सूखा
और केवल भूख का ही
रह गया मन आज भूखा
मिट गई मधु कामना तो
आज मधु की बात आई!
आज मधु की रात आई!

११

मन बहलाया मैंने सुन्दर,
कुछ दिन तो तेरे अञ्चल में!
जीवन-मरु में, तरु-छाया से,
तुम मिले स्नात मधु-माया से,
कुछ दिन तो बीते स्वप्न देश,
तेरे कोमल अन्तस्तल में!
मन बहलाया मैंने सुन्दर,
कुछ दिन तो तेरे अञ्चल में!

कुछ चाह-उमंग लिये मन में
पहुँचा था तेरे आँगन में,
तुमने बतलाया सुख चपला
भी तो है दुख के बादल में!
मन बहलाया मैंने सुन्दर,
कुछ दिन तो तेरे अञ्चल में!

सागर-सा, नभ-सा तेरा उर—
विस्तृत, जिसमें था स्नेह मधुर
लघु उर में मैं न समेट सका
तेरा स्वप्निल मधु दो पल में!
मन बहलाया मैंने सुन्दर,
कुछ दिन तो तेरे अंचल में!

१२

आँखों को आज सँभाला तो !

उर में है प्यार असीम बढ़ा
यौवन में पहला ज्वार न है
अब तुमको छोड़ यहाँ मेरा
दूसरा और संसार न है

कुछ परिवर्तन ऐसा आया
मिट गई हृदय की ज्वाला तो !
आँखों को आज सँभाला तो !

चिन्ता न मुझे यदि जीवन में
पहला मस्तानापन न रहा
इसका भी है सुख नहीं कि तुम–
में वह बेगानापन न रहा

केवल इसकी है खुशी कि इस
मन ने चिर-बन्धन पाला तो !
आँखों को आज सँभाला तो !

जो प्रबल बाढ़ थी, सिमट गई
दो बूँद आँख के पानी में
अब सागर-सा गम्भीर बना
मैं अपनी भरी जवानी में

अब पी न सकूँगा, समा गई
मुझ में मेरी मधुशाला तो!
आँखों को आज सँभाला तो!

तुम से रहना ही दूर-दूर
यों आज मुझे वरदान हुआ
आखिर थककर जब मौन हुआ
तो तुम को मेरा ध्यान हुआ

यह कशिश, कि आखिर तुमने भी
'तुम मेरे हो' कह डाला तो!
आँखों को आज सँभाला तो!

१३

यह न जाने क्या नयन में !

लोग कहते हैं कि मेरा
बालपन का सित सवेरा
रँग गया, जब से लिया
रंगीन यौवन ने बसेरा

स्वप्न-सी पर लाज आई
आज क्यों इस जागरण में !
यह न जाने क्या नयन में !

अब न मैं कुछ मानता क्यों !
अब न कुछ पहिचानता क्यों !
चाहता कहना बहुत कुछ
पर न भाषा जानता क्यों !

आज एक अभाव-सा क्यों
भर गया है, प्राण-तन में !
यह न जाने क्या नयन में !

आज की हँसती जवानी
सरस बाहर की निशानी
एक मैं ही जानता हूँ
आज अन्तर की कहानी
क्या कहूँ दुख या कि सुख, जो
छा गया है हृदय-मन में !
यह न जाने क्या नयन में !

अश्रु मेरा हास सा भी,
अब मधुर ही है व्यथा भी
स्वयं अपने को बना मैं
आज एक प्रहेलिका भी
पा रहा क्यों विश्व अब कुछ
गान भी मेरे रुदन में !
यह न जाने क्या नयन में !

१४

रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो!

एक क्षण का मधुर दर्शन
नयन-घट की स्निग्ध छलकन
युगल उर में युगल जीवन—
मिलन का बन्धन अमर हो!

रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो!

पलक घूँघट में लजायी
स्नेह के उर में समायी
चार आँखों की चुरायी—
सी चपल चितवन अमर हो!

रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो!

हृदय के मधु भाव शत-शत—
निकलते कब लाज प्रतिहत ?
मूक भाषा हृदय—निर्गत
यह अधर-कम्पन अमर हो !
रोम तारों में बँधी पुलकन अमर हो !

वेदना-घन का घुमड़ घिर
बरस पड़ना नयन में फिर,
कसक से बन्दी हुए चिर,
प्राण की सिहरन अमर हो !
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो !

विरह - सिंचित प्रेम - अंकुर
पल्लवित हो जाय आतुर
स्वप्न के भी मिलन में, उर—
का चपल स्पन्दन अमर हो !
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो !

१५

ओ गगन के एक तारे !

लूटने जब अग्नि मेरी
प्रबल झंझावात आया
बुझ गया तब दीप मेरा
प्राण - अंचल में छिपाया,
अब तुम्हीं आओ, बुलाता
सांध्य - गीतों के सहारे !
ओ गगन के एक तारे !

चाहती मेरी जवानी
प्रलय की उद्दाम ज्वाला
दे रहा है किन्तु शीतल—
विश्व तो हिम - हास - हाला
जल उठो तुम आज गिरकर—
हृदय - सरिता के किनारे !
ओ गगन के एक तारे !

वक्र ही जब हो गई है
आज मेरी भाग्य - रेखा,
चित्र में किसके भरूँ फिर
हाय, अपनी रूप - लेखा
है न कोई और अपना
आज तुमको छोड़ प्यारे!
ओ गगन के एक तारे!

प्राण, तुम में देखता हूँ—
आज मैं अपनी इकाई
साँस - बन्धन में बँधा भी
आज मैंने मुक्ति पाई।
हिल पड़े तुम, चल पड़े लो!
जीत कर भी नयन हारे!
ओ गगन के एक तारे!

१६

लो, वारुणी को मोल लो!
वरुनियों का पट हटा
झिलमिल नयन-घट खोल लो!

वेदना के बेल-बन से
खींच, उर के मधु-भवन में—
जो हुई निर्मित, सुधा सी—
मधुर मधु अनमोल लो!
लो, वारुणी को मोल लो!

कूल की सीमा मिटाती,
बह चली मुझको बहाती
आज घूँटों की तुला पर
उस व्यथा को तोल लो!
लो वारुणी को मोल लो!

मधुर स्मिति से नित्य नूतन
आँक लो यह मौन क्रन्दन,
आज इस मधु की नशा में
झूम लो, कुछ बोल लो!
लो, वारुणी को मोल लो!

है जहाँ दुख का निनर्तन
अरुण लपटों का विवर्तन,
आज इस ज्वाला-नगर में
मृदुल मधुतन, डोल लो!
लो, वारुणी को मोल लो!

चूमते रजकण इसे अब,
मोल दूँ इसको किसे अब,
प्राण, इस विष सी सुधा में
चिर मिलन-सुधि घोल लो!
लो वारुणी को मोल लो!

१७

जी रहा हूँ बस यही है
आज जीवन की निशानी!

है कहाँ मधुमास मुकुलित?
मैं विकल पतझार सा हूँ
विकल उर के प्यार सा हूँ
बिछ गया मैं आज जग-पथ—
पर बना दुख की कहानी!
जी रहा हूँ बस यही है
आज जीवन की निशानी!

निकल पड़ते आज मेरे
क्यों न जाने गान गीले?
बिखरते बरबस हठीले!
बरस पड़ती है सजल
बरसात सी मेरी जवानी!
जी रहा हूँ, बस यही है
आज जीवन की निशानी!

तिमिरमय पथ पर खिचा सा
मैं कहीं को जा रहा हूँ!
कौन सा सुख पा रहा हूँ?
चाहता रुकना, न रुकने—
दे रहा पर कौन मानी?
जी रहा हूँ बस यही है
आज जीवन की निशानी!

मैं चिरन्तन रागिनी बन
जी उठा हूँ तिमिर बन में,
भर व्यथा का भार मन में!
कौन पहिचाने भला,
जाने भला यह करुण वानी!
जी रहा हूँ बस यही है
आज जीवन की निशानी!

खोजते हैं प्रात - रेखा
क्षितिज पर ये थकित लोचन
चीर तम का आवरण घन,
भूल पड़तीं व्यर्थ क्यों
बरबस तभी स्मृतियाँ पुरानी ?
जी रहा हूँ बस यही है
आज जीवन की निशानी !

जी रहा हूँ, कह रहा जग
बस इसी से जी रहा हूँ,
और कुछ कर ही रहा हूँ ;
किन्तु उर में है कहाँ स्पन्दन,
बताये विश्व ज्ञानी !
जी रहा हूँ, बस यही है
आज जीवन की निशानी !

१८

ढूँढ़ता पथ मैं विजन में।
इस विपिन में आज तक मैं—
ने स्वयं निज पथ बनाया
इस तिमिर को एक युग तक
क्षीण जुगनू बन जगाया
बुझ गई पर आज अपने
आप मन की आग मन में!
ढूढ़ता पथ मैं विजन में!

आह, ज्वाला तो बना पर
स्वयं भी जलने न पाया!
विश्व को पथ क्या दिखाता
जब स्वयं चलने न पाया!

साँस-झंझा में नियति की
उलझ बैठा एक क्षण में!
ढूढ़ता पथ मैं विजन में!

आह निज किससे कहूँ, किस—
को सुनाऊँ मर्म-वाणी!
क्या समझ लेंगे हृदय की
बात वन के मूक प्राणी!

हारकर अब आ गया मैं
आज अपनी ही शरण में!
ढूढ़ता पथ मैं विजन में!

१६

कोई तम में मुसकाता है !

सुरधनु से थे जो सुख अपने
मैंने समझा सच, थे सपने !
मेरी प्रकाश-रेखा छू अब कोई मुझको सिहराता है !
कोई तम में मुसकाता है !

तम से है घिरा हुआ जीवन
कितना है आज अकेला मन !
नभ के इस उल्कापात सदृश यह जीवन टूटा जाता है !
कोई तम में मुसकाता है !

दे सकी न साथ निराशा भी !
रह सका न कुछ दिन प्यासा भी !
अपनी इस परवशता से भी तम में जीवन डर पाता है !
कोई तम में मुसकाता है !

●

२०

आह, मैं गा भी न पाता !

फूटने को विकल होती
कंठ की पीड़ा उमड़ कर
किन्तु वह जाता तभी गल–
कर नयन से हृदय का स्वर !

आज पथ पर मैं किसी के
गान बिखरा भी न पाता !
आह, मैं मा भी न पाता !

चाहता मुसकान बन मैं
बिछ पड़ूँ जग की डगर में
किन्तु बह जाता विवश हो
नियति की अति लघु लहर में!

चाहता बस मुसकुराना
किन्तु मुसका भी न पाता!
आह, मैं गा भी न पाता!

शून्य को ही मैं सुनाता
हूँ सजल अपनी कहानी
किन्तु मेरे पास आती
लौट वह प्रतिध्वनित बानी!

मैं किसी के पास उर की
बात पहुँचा भी न पाता!
आह, मैं गा भी न पाता!

२१

दो तम का पारावार मुझे!
उठ उठ कर अपने जीवन से
बन्दी बन खेलूँ बन्धन से
अपने में लय होऊँ, दो वह चिर-सपनों का संसार मुझे!
दो तम का पारावार मुझे!

मैं फिर न मिलूँ, यों खो जाऊँ
जागूँ न कभी, यों सो जाऊँ
जिसको मैं आँख मूँद पी लूँ, दे दो वह विष सा प्यार मुझे!
दो तम का पारावार मुझे!

अपनी पीड़ा पर मुसकाऊँ
सुख को मैं प्रतिपल ठुकराऊँ
जो ऊपर ही उठता जाये, दे दो वह जीवन-ज्वार मुझे !
दो तम का पारावार मुझे

छू सकें न पाँव जहाँ धरती
लहरें हों विषम व्यथा हरती
चाहिये न कूल-किनारा अब दो सागर का मझधार मुझे !
दो तम का पारावार मुझे

२२

अब न दुख का गान भी है !
नयन-नभ में अश्रु-घन पर
चित्र थे जिसने दिये भर
अब न वह रंगीन सपनों
की करुण मुसकान भी है !
अब न दुख का गान भी है !
खोजती थी विकल होकर
जो सुनहरे दिवस के स्वर,
भटकती सी आज वह
मेरी न टूटी तान भी है !
अब न दुख का गान भी है !

चाह कुछ अन्तिम समय में
भर सकी थी जो हृदय में
रह गयी वह आज सुख-दुख
की नहीं पहिचान भी है!
अब न दुख का गान भी है!
बन सका बेसुध जिसे पी
और कुछ दिन यों सका जी!
बच गया बाकी न अब वह
अश्रु का आपान भी है!
अब न दुख का गान भी है!

●

२३

क्या सुखों को सह सकोगे ?
अंक में जिसने लिया था
स्वप्न से बेसुध किया था
बात उस तम की कभी क्या तुम विभा से कह सकोगे ?
क्या सुखों को सह सकोगे ?
सुख लिये आँखें मरेंगी !
कब उमड़ पीड़ा भरेगी ?
आह, भीगी वात के प्यासे ! न मरु में रह सकोगे ?
क्या सुखों को सह सकोगे ?
खार जल के अंक में पल
प्यास-ज्वाला जब उठी जल
अब बुझाने को उसे मधु-धार में क्या बह सकोगे ?
क्या सुखों को सह सकोगे ?

●

२४

मान जा, तू मौन हो जा!
भार अपनी ही व्यथा का
ढो रही असहाय दुनिया!
दर्द, आह, पुकार तेरी
सुन न सकती हाय, दुनिया!
व्यर्थ अब दुखिया न दुख के
गान गा, तू मौन हो जा!
मान जा, तू मौन हो जा!

राजपथ पर यों सुना
भोले, न मरघट की कहानी !
जा रहे जलते स्वयं चलते
यहाँ अनजान प्राणी !
स्वयं को अंगार-सा बन
दे बुझा, तू मौन हो जा !
मान जा, तू मौन हो जा !

पंख-युगल समेट ले
जुगनू, न क्षीण प्रकाश कर तू !
लीन जो तम में हुए उन-
का न यों उपहास कर तू !
मूक हैं जो, मत उन्हें
कहना सिखा, तू मौन हो जा !
मान जा, तू मौन हो जा !

२५

तब मैं मुसका भर देता हूँ !

जब पीर हृदय में बढ़ती है
आँखों की बाढ़ उमड़ती है
जब बनती विकल विकलता भी—
तब मैं मुसका भर देता हूँ !

जब फूट हृदय के स्तर-स्तर से
करुणा बह जाती है स्वर से,
कविता बनती विह्वलता भी—
तब मैं मुसका भर देता हूँ !

जब कठिन नियति की ज्वाला ले
अधरों तक विष का प्याला ले
यह कोमल जीवन जलता भी—
तब मैं मुसका भर देता हूँ !

●

२६

जाऊँगा कहाँ मैं भाग !
जल रहा घर, जल रहा बन,
जल रहा है सृष्टि का तन,
हर जगह ही तो लगी है
यह भयंकर आग !
जाऊँगा कहाँ मैं भाग !
सुन जिसे मानव प्रकम्पित
और पशु - पंछी सशंकित,
हर जगह ही गूँजता वह
एक झंझा - राग !
जाऊँगा कहाँ मैं भाग !

महल और कुटीर मिलकर
धूल में बनते बराबर,
हर जगह सोई क्षुधा भू—
की उठी है जाग!
जाऊँगा कहाँ मैं भाग?

किस तरह निज नयन खोलूँ?
और किससे हाय, बोलूँ?
हर जगह तो हँस रहा है
प्रलय का अनुराग!
जाऊँगा कहाँ मैं भाग?

२७

थक गया अब यह व्यथा का
भार सह सकता न जीवन !

जी रहा इस विश्व-कारा-
गार में लघु कीट-सा बन
हाय निर्माता, कठिन तुम-
ने दिये अव्यक्त बन्धन !
काटता जितना इन्हें, उतने
फँसे हैं प्राण जाते !
हाय, अब इस यंत्रणा में
और रह सकता न जीवन !

हँस न पाता, क्योंकि जल
जाती यहाँ हँसती जवानी!
एक पल में धुल यहाँ
जाती मधुर जीवन-निशानी!
मौन क्रन्दन, नयन-घन ही
आज तक साथी मिले पर
अश्रु - पारावार में अब
और बह सकता न जीवन!

मिट गया तो था तभी जब
था किया निर्माण तुमने
बन गया बन्दी, दिया जब
मुक्ति का वरदान तुमने!
अन्धकार प्रकाश के युग
द्वार अब भी बन्द कर दो!
चाहिये दुख या कि सुख यह
आज कह सकता न जीवन!
थक गया अब यह व्यथा का
भार सह सकता न जीवन।

१८

मैं अपने में रह न सकूँगा!
मैं इस जग का, यह जग मेरा
मैं निज पथ पर देता फेरा
अपने ही सुख का चिन्तन क्यों,
जब जग भर को दुख ने घेरा?
सुख या दुख का भार अकेले
मैं जीवन में सह न सकूँगा!
क्यों मैं अन्तर्मुख हो जाऊँ
अपने में अपने को पाऊँ?
सपने में बहता यदि जग तो
सपने में मैं भी बह जाऊँ!
मैं बस अपने ही प्रवाह में
मन कहता है, बह न सकूँगा!

मैं जग को दूँ क्या सुख-साधन !
ऐसा मुझ में कुछ न चिरन्तन
क्यों न हृदय पर हँस-हँस ले लूँ
तो फिर इस जग का उर-बन्धन !

मैं जग के जीवन को क्या
अपना ही जीवन कह न सकूँगा !

सुख-दुख हैं इस जीवन में ही
हास - रुदन मानव - मन में ही
भाग कहाँ दुख से जा सकता
सुख खोजूँ जग-बन्धन में ही

मैं मानवपन से हट जाऊँ
मरकर भी कर यह न सकूँगा !
मैं अपने में रह न सकूँगा !

२६

नयन में हो अश्रु मेरे,
तो अधर पर हास भी हो!

सुख-दुखों के अश्रु-कण से
सिक्त करके मन यहाँ पर
काल के निशि-दिन नयन दो
नाप लें जीवन यहाँ पर!

यदि विरह-पतझर यहाँ हो
तो मिलन-मधुमास भी हो!
नयन में हो अश्रु मेरे
तो अधर पर हास भी हो!

यदि बिछूँ तरु-तृण-लता पर
रजत-हिम-कण बन सवेरे
सान्ध्य घन भी तो अरुण बन
कर मिटूँ मेरे चितेरे!

प्राण में चिर तृप्ति हो तो
हृदय में चिर प्यास भी हो!
नयन में हो अश्रु मेरे
तो अधर पर हास भी हो!

गान बन यदि मैं हँसूँ तो
रो सकूँ भी मैं रुदन बन
अमर जीवन बन सकूँ तो
सो सकूँ भी चिर मरण बन

जागरण में दूर हो तो
नींद में प्रिय पास भी हो!
नयन में हो अश्रु मेरे
तो अधर पर हास भी हो!

३०

वेदनाओं से बना है विश्व, यह इतिहास मेरा !
स्वप्न के सौन्दर्य से निर्मित हुआ मधुहास मेरा !
छू रही पीड़ा उँगलियों
से लचीले तार उर के
नयन की बरसात से गीला हुआ मधुमास मेरा !
सजल पलकों में सदा ही
अमिट आशा खेलती है
अमर दुख के पालने पर झूलता विश्वास मेरा !
अगम सागर भी बुझा—
सकते न उर की प्यास मेरी
आह, युग-युग से सिसक कर जी रहा उल्लास मेरा !
भग्न - भूखी कामनाओं
का अमिट अभिशाप जीवन
टूटता बन धूमकेतु न, मलिन उर-आकाश मेरा !
वेदनाओं से बना है विश्व, यह इतिहास मेरा !

●

३१

करुण अलि शृंगार !

टूटता प्रति क्षण विरह-घन
मूक मन का मान,
पर अधर पर खेलती
रहती सदा मुसकान,
मोम के उर से दबा है
अनल – हाहाकार !
उर का है करुण शृङ्गार !

घर रहित नीले गगन-
से नयन जीवनहीन
जी रहे ये दीन बन
जल-हीन सर के मीन
बरसने वाले नयन—
में बस गया पतझार!
नयनों का करुण शृङ्गार!

तीव्रतम बनकर स्वयं—
ही बुझ गई है प्यास
स्निग्ध यौवन का अरे,
यह करुणतम इतिहास!
हाय, पग-पग बिछी है
प्यार मग में हार!
यौवन का करुण शृङ्गार!

मैं करुण-संगीत, क्या मेरी कहानी !
फूट बहता हूँ विरह के
कण्ठ से जब मैं निकल रे !
मधु पुलक से सिहर उठता
विश्व का जीवन विकल रे !
संतरण करती गगन की साँस में मेरी निशानी !
मैं निकल पड़ता कि गल—
पड़ते नयन के करुण हिमकण
भीग कर रे मधु व्यथा से
जाग उठता हृदय-स्पन्दन
अमर दुख-घन पर अमिट सुरचाप सी मेरी जवानी !

मैं कुहुक उठता कि हिल—
पड़ते जगत के प्राण-जीवन
मूक उर की वेदना को
कह न सकती अधर कम्पन
विश्व की गति ही नयी है, गीतिका मेरी पुरानी!
मैं अलक्षित एक बन्धन
में बँधा लय-ताल के हूँ
वेदना की आह से—
बन्दी हुआ चिरकाल से हूँ
सतत जिसके ताप से हो दग्ध उड़ती विकल बानी!
भग्न उर की मैं करुणतम
हूँ निराशा रे निराशा!
शब्द के लघु पंख पर—
उड़ती असीम अनन्त भाषा
पालता दुख का पतन-उत्थान, सुख समता न जानी!
मैं करुण संगीत, क्या मेरी कहानी!

●

३३

यह हृदय की प्यास

जागती अज्ञात कुछ
लेकर विकलता भार,
और मेरे विषम तम की
करुण हाहाकार
खोजती किस क्षीण जुगनू
का सजीव प्रकाश ?
यह हृदय की प्यास !

कल्पना की भूख से जो
तप्त मेरे प्राण
माँगते अनजान हँसते
हृदय का वरदान,
है हृदय तो पास पर
पाऊँ कहाँ मधुहास ?
यह हृदय की प्यास !

चाहता मेरा पथिक है
स्वप्न का उन्माद
जो न जीवन में मिली
ऐसे मिलन की याद
पर अमर वह नींद आती
है न मेरे पास !
यह हृदय की प्यास !

बीतते जाते सजीले
दिन, रँगीली रात—
खोजने में, किन्तु किसको
यह नहीं है ज्ञात।
डर रहा मैं, व्यर्थ ही
बीते न यह मधुमास !
यह हृदय की प्यास !

●

३४

री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!
बाँध कर जीवन-सुधा को
स्नात निज श्यामल अलक में
सो रही हो एक विद्युत-
द्युति लिये अपने पलक में
विहँस चिर स्मिति सी सतत-स्नाता परी!
री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!
कामरूपा मोहिनी, जग
की दुलारी, नयन - प्यारी!
धूप - छाया के करों से
नापती जग की व्यथा री!
तार तर नभ-साँस-धारा की तरी!
री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!

हृदय में झंझा छिपाये
नयन में बरसात आली!
कण्ठ में कुछ गुनगुनाती—
सी प्रलय की बात आली!
अग्नि-रेखा तव अधर-मुसकान री!
री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!
जाग री, अब त्याग अपना
पालना मन्थर पवन का,
देख विद्युत के नयन से
सघन दुख-तम जग-भवन का,
रो रहा है करुण जग-जीवन अरी!
री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!
काँप जाये आज अग-जग
बन्द कर निज मुग्ध लोचन,
सृष्टि यह नूतन बने फिर
सजनि, विस्मृत हो पुरातन!
तान वह छेड़ो प्रलय की किन्नरी!
री गगन-बाले, अरी घन-सुन्दरी!

१५

अश्रु में तुम कौन मेरे !
आज सुप्त स्फुलिंग सा क्यों
जाग आया हृदय मेरा !
धधककर क्यों जल उठा है
फिर जवानी का बसेरा !
मैं अभागा दीप, क्यों—
आये मुझे स्मृति-शलभ घेरे !
था बसा ज्वाला-नगर में
पर बुझी थी प्यास मेरी
सफल निज पथ पर यहाँ था
दे रहा निर्बाध फेरी
छेड़ने क्यों नींद मेरी
आज आये स्वप्न तेरे !

काल की काली कुहू को
तोड़ कर तुम ताकतीं क्यों ?
नयन मेरे मुँद गये, बर—
बस उन्हीं में झाँकतीं क्यों ?

यों न छा जाओ क्षितिज पर
सजनि, हिम-कण बन घनेरे !

आज यों मत फोड़ने
आओ हृदय के ये फफोले !
फिर न कस कर दृढ़ करो
बन्धन युगों के बाद खोले !

तिमिर-कर से बन्द कर दो
नयन आज प्रकाश के रे !

भूलने में हूँ तुझे तन्मय
मुझे दो भूलने ही !
उड़ गईं तुम गन्ध, विस्मृति-
वृन्त पर दो झूलने ही !

आज निशि में याद, स्मृति में
फिर न आना कल सवेरे !
अश्रु में तुम कौन मेरे !

●

३६

पाया तुमको प्रिय, पाया!
तुमको पहिचाना उस क्षण जब
देखी वह स्मिति की रेखा
तुम को जाना उस दिन मैंने
जब तुम को रोते देखा
तेरी वाणी में आज मिली
मुझको निज दुख की छाया
पाया तुम को प्रिय, पाया!
मेरी आँखें घुल गईं प्राण,
तेरे उर की कम्पन से
तुम घन बनकर घिर आये प्रिय,
उठ उठ मेरे जीवन से,
तुम से ही शीतल आज हुई
मेरी धरती की काया!
पाया तुम को प्रिय, पाया!

कब समझा था बँध पाओगे
तुम लघु सीमा में मेरी!
प्रिय, तुमको ही क्या पता नहीं
निस्सीम परिधि है तेरी!

सागर सा प्यार तुम्हारा लघु—
सीकर में उमड़ा आया!
पाया तुम को प्रिय, पाया!

तुम दूर-दूर हो, तो भी हो
तुम दूर न मुझसे प्यारे,
मेरा पथ आलोकित करने—
वाले ओ सजग सितारे!

तेरे भुज-बन्धन में मेरा
उर-स्पन्दन समुद समाया!
पाया तुम को प्रिय, पाया!

३७

जीवन एक है अभिशाप
पर वरदान भी तो है!

जिसका पंक में है मूल
उसका सरस कितना फूल!
जीवन है उसी का नाम
कहते हैं जिसे हम भूल,
कहते हैं जिसे दुख-राग
वह मधु-गान भी तो है!
जीवन एक है अभिशाप
पर वरदान भी तो है!

विष से है सुधा का मान
निकला है रुदन से गान
बन्धन भी सफल है क्योंकि
मिलता मुक्ति का वरदान
जीवन में निशा है किन्तु
स्वर्ण - विहान भी तो है!
जीवन एक है अभिशाप
पर वरदान भी तो है!

यौवन में न कुछ विद्रूप,
तम से है विभा का रूप,
सुख का है नहीं कुछ मोल
यदि वह हो न दुख-अनुरूप,
जीवन में पतन जो है
वही उत्थान भी तो है!
जीवन एक है अभिशाप
पर वरदान भी तो है!

●

१८

यह मूक व्यथा, यह मौन गान !

मानस में चपल तरंगों सी
मिटती बनती नव-नव आशा
मैं नये सिरे से सीख रहा
जीवन की महती-परिभाषा !

मैं नहीं जानता कहना पर
कुछ देख रहा, पहिचान रहा
बुझ गई प्यास पर जाने क्यों
रहता फिर भी प्यासा-प्यासा !

कैसे अपने को व्यक्त करूँ,
इससे रहते हैं व्यग्र प्राण !
यह मूक व्यथा, यह मौन गान !

३९

वाणी दो, मुझको वाणी दो!
कुछ कहना है, कैसे कह दूँ?
कोई इतना ही बतला दे!
जिस पथ पर मौन न रह पाऊँ
वह पथ तो कोई दिखला दे!
जिस ओर उठाता आँख वहीं
पाता कुछ तत्त्व महान यहाँ,
कैसे गा उसको झूम पड़ूँ
इतना ही कोई सिखला दे!
जिससे उर की अभिव्यक्ति करूँ
वह शक्ति मुझे कल्याणी दो!
वाणी दो, मुझको वाणी दो!

●

४०

आशा है एक निराशा में !

घन के बनते मिटते चित्रों
से मैं अपने को भर न सका !
शशि की किरणों से मधु बनकर
जग-उर में कभी उतर न सका ।
सुरधनु से नभ में चढ़ न सका
बिजली बन भू पर गिर न सका
फिर भी क्यों आशा छोड़ कहूँ
'मैं जीवन में कुछ कर न सका'
'कुछ करना है तुमको' यों कोई
कहता नीरव भाषा में !
आशा है एक निराशा में !

४१

मैं अपने पथ पर चलता हूँ !
छेड़ते बहुत आकर मुझको
कहते यह तो पागलपन है,
मैं किसको किसको समझाऊँ
अनजान, यही तो जीवन है !
भोले जग को क्या पता कि है–
मेरे नस-नस में आग लगी
मैं सुलझाने में व्यस्त, कठिन
जग-जीवन की जो उलझन है,
बस इसी बात के लिये विश्व
की आँखों को मैं खलता हूँ !
मैं अपने पथ पर चलता हूँ !

●

४२

निज अभिशापों को प्यार किया
था रुदन इसी से जान सका
अपने जीवन के गान यहाँ
विस्मृति थी जिससे मैं फिर फिर
कर सका जान-पहिचान यहाँ,
जीवन में कुछ कटु उलझन थी
जिससे कुछ मुलझाना सीखा
सागर था जिससे समझ सका
क्या होता है जलयान यहाँ !
मैं भूल न जाऊँ पुण्यों को
इससे पापों को प्यार किया
निज अभिशापों को प्यार किया

●

४३

प्रिय, इस पथ में क्यों यह विचार ! कर लें विघ्नों का आलिङ्गन !
मत रुको, हमें बस चलना है
मत भूलो, दुनिया छलना है
हम चलें क्यों कि रुकना ही मृत्यु और चलना ही है जीवन !
पथ सुगम अगम हम को सम है
जैसा प्रकाश वैसा तम है
हम बढ़ें, न हम को रोकेगा संसृति की सीमा का बन्धन !
जीवन का सुख तो दुख में है
सपना, सपना ही सुख में है
सच्चे सुख की साधना यही, झेलें दुख चल प्रति पल, प्रति क्षण !
प्रिय इस पथ में क्यों यह विचार, कर लें विघ्नों का आलिंगन !

●

४४

तू तरी, बही चल मेरी, मैं
हूँ एकाकीपन वाला !
आशा ही जिसकी साथिन, मैं
उस प्यासे जीवन वाला !

यह प्रबल वेग से झंझावर्तन
आता है, आ जाये
नागिन सी लहरें लिये ज्वार
उठता है, तो उठ आये
ये उमड़-घुमड़ घिर आये हैं
नभ में प्रलयंकर बादल
चलदल के दल सी कांप रही
चपले क्यों दायें-बायें ?

कब डर सकता हूँ मैं सपनों—
से निर्मित यौवन वाला ?
तू तरी, बही चल मेरी, मैं
हूँ एकाकीपन वाला !

४५

मेघ-माला

आज जग-आँगन सजाती
आ गई लो मेघ-माला !

दूर, वह प्राची क्षितिज में
फहरती किसकी पताका ?
एक रेखा—धवल धारा—
सी उड़ी आती बलाका,
चपल धारा में नहाता—
सा सजल शीतल पवन की
छहरता कुन्तल सहज
श्यामल सघन घन-बालिका का
आज श्याम - दुकूलिनी
लहरा गयी लो मेघ-माला !
आज जग आँगन सजाती
आ गयी लो मेघ-माला !

झिलमिले घूँघट सदृश
घन-सुन्दरी के मंजु मुख पर
तैरता वह निकट भू के
बादलों का एक ही स्तर
झाँककर उससे, झिझक झुक
झूँप मतवाली मयूरी
नाचती ही रह गयी गति-
ताल की सुधि भूल मन्थर
गान अनजाने सजल कुछ
गा गयी लो मेघमाला !
आज जग-आँगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

दूर, क्षीण हरीतिमा उस—
पार गंगा के वनों की
पड़ रही धूमिल मिली सी
कालिमा में नव घनों की,
दूर टीले पर खड़ा वह
एक पीपल - तरु अकेला
मधुर रिमझिम में बना सा
याद विरही उन्मनों की

हूक सी बन हृदय बीच
समा गयी लो मेघमाला !
आज जग-आँगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

तृषित भू-उर छेद निकले
जो हरित तृण-प्रेम-अंकुर
चर रहे थे ढोर कुछ
उनको क्षुधा-विच्छिन्न आतुर
देख नभ से उमड़कर वह
बरसती सरि की पिपासा—
भागते वे आ रहे ले-
कर निराशा से भरा उर
घेरकर घिरकर घहरकर
छा गयी लो मेघमाला !
आज जग-आँगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

तृषित तरु, तृण, बाग, वन में,
सरित-सर के तृषित तन में
बह चला नभ का हृदय गल
तृषित भू के उर-नयन में

तब न जाने किस अलक्षित
भार से नत यह पवन भी
खोल वातायन चपल घुस
आ गया मेरे भवन में
प्यार - रस अपना मधुर
बरसा गयी लो मेघमाला !
आज जग - आँगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

गोल बूँदें गिर पड़ीं जब
सरक पत्रों से सुमन में
भर लिया उसने समझ निशि-
अश्रुकण अपने नयन में
भूमि पर झर्झर् उठा झर
एक मर्मर् स्वर पिघलकर
जग पड़ी जब सुप्त अँगड़ाई
लता - तरु के सदन में
मधुर मधु से विश्व को
नहला गयी लो मेघमाला !
आज जग - आँगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

पी कहाँ स्वर जब अचानक
जी उठा तरु - कुंज - वन में
मधुर मर्मर की हुई—
सिहरन द्रुमों के सजल तन में
रन्ध्र-आगत सीकरों से
पंख गीले फड़फड़ाते
गा उठा पिक आम्र-वन में
जब व्यथा भर-भर रुदन में
तब अचानक तड़ित मिस
मुसका गयी लो मेघमाला !
आज जग-आँगन सजाती
आ गयी लो मेघ-माला !

उलझ संध्या के चरण से
जब फटा उस ओर बादल
कूद आयीं रन्ध्र से रंगीन
रवि की किरण चञ्चल
बन गया रवि का सुनहरा
जलद-सिंहासन मनोहर
हो गया रवि-सान्ध्यबेला
का सजल अभिसार दो पल

हास-धारा विश्व बीच
बहा गयी लो मेघमाला !
आज जग - आंगन सजाती
आ गयी लो मेघमाला !

४६

भिखारिणी

व्यथा सी म्लानमना तुम कौन
अभिशापित करती इस युग को
मानवता सी मौन

राजमार्ग के एक किनारे
बैठी हाथ पसार
क्या निर्धन, क्या भूप, सभी से
करती एक पुकार,
तू भूखों रोती, हँसता—
आता जाता संसार

निर्धनता सी, नित उपेक्षिता
कृश-वदना तुम कौन ?
व्यथा सी म्लानमना तुम कौन !

चलती हुई नारती सी मग
पग-पग लकुटी टेक,
सटा पेट, अटपटे वचन,
जिनमें दुख का अतिरेक,
कहती 'मुझ भूखी को दो
बाबूजी, पैसा एक।'

खुले केश, करुणा सी दीन—
मलिनवसना तुम कौन!
व्यथा सी म्लानमना तुम कौन!

देख सान्ध्यवेला चल पड़ती
करने को विश्राम
देती दोष भाग्य का, कहती—
'आज विधाता वाम,
हे ईश्वर तू कहाँ, न लूँगी
अब मैं तेरा नाम।'

चिन्ता-सी ओ दुख-सर-जीर्ण-
जलज-नयना, तुम कौन!
व्यथा सी म्लानमना तुम कौन!

बिछा जीर्ण कंथा को, रोती—
रोती, खाली पेट,
सटा पैर को सिर से, जीवन—
की सब व्यथा समेट
सड़क किनारे, तरु के नीचे,
भूपर रहती लेट

उठ प्रभात ही चल पड़ती
डगमग-चरणा तुम कौन ?
व्यथा सी म्लानमना तुम कौन ?

४७

शिशु प्यार मेरा !

विरह के घर में पला है सजनि, यह शिशु प्यार मेरा !

पालने में अलस-पलकों के इसे मैंने झुलाया,
हृदय - स्पन्दन की थपकियों से इसे मैंने सुलाया,
मचलते इस कान्ह को निज प्राण अंचल में छिपाया,
निज रुदन की लोरियाँ गा-गा इसे मैंने मनाया,

एक इसको पा नया ही बस गया संसार मेरा !
विरह के घर में पला है सजनि, यह शिशु-प्यार मेरा !

सजनि, कुहुकिनि वेदना के संग इसने की मिताई,
पूर्व स्मृतियाँ खेलने को आज इसके पास आईं,
आह, इसको पालने में क्या व्यथा मैंने न पाई,
एक इसके हित जगत की लाज, सब सुधि-बुधि गँवाई,

यह मुझे भाता बहुत बन वक्ष पर का भार मेरा !
विरह के घर में पला है सजनि, यह शिशु-प्यार मेरा !

खींचकर यह अश्रु रेखा इन कपोलों पर मिटाता,
कल्पना के पंख से उड़ विश्व में कुछ खोज आता,
विकल मेरी आह से है चपल मधु वंशी बजाता,
सरल मेरी सिसकियों के ठान कर हठ गान गाता,

देख यह हँसता हृदय का करुण हाहाकार मेरा
वेदनाओं से बना है सजनि, यह शिशु-प्यार मेरा

४८

मेरा यौवन

रवि रश्मि-तूलिका से सुरधनु में घन पर
मेरे यौवन को ही देता चित्रित कर,
सुमनों के साँचे में ढलता यह यौवन,
जब उमड़ छलक पड़ती प्राची-मधुशाला !

जिसको निशीथ में था मैंने पहचाना,
झीना - झीना है जिसका ताना - बाना,
उसके रंगो से रँगा क्षणिक यह यौवन—
जो बन-बन टूटा करता स्वप्न निराला !

मरकत-दुकूल का जिसके स्वर्ण-किनारा,
केसर से जिसकी धुली हास की धारा,
उसकी परछाईं सा मेरा यह यौवन—
क्षण भर की जो है सान्ध्य-अप्सरा-बाला !

यह कुसुम बाल कितना लघु, कितना सुन्दर
ले झूम वृन्त पर यह निज लघु जीवन भर,
इस नव पल्लव को क्यों तोड़ूँ, क्यों मोड़ूँ !
कल स्वयं सूख जायेगी इसकी हाला !

है कुछ पल का ही इस पंछी का जीवन,
दे दूँ मैं क्यों उपहार इसे जग-बन्धन !
पल भर में स्वयं थकेंगी कोमल पाँखें,
फिर जब तक उड़ सकता उड़ ले मतवाला !

बिछलन आँगन में, अलसाया यह यौवन,
गिरता उठ उठ, उठता गिर-गिर बेसुध बन,
फिर भी आँगन तो है उसका अपना ही,
वह छोड़ चले क्यों यह घर देखा भाला।

यह शलभ बाल रे क्यों निज पंख समेटे !
क्यों निज उर से प्राणों का मोह लपेटे !
जलने की अपनी साध मिटायेगा कब !
जब बुझ जायेगी जल-जल दीपक ज्वाला !

यह यौवन बन्धन हीन, स्वयं बन्धन भी,
यह स्वयं साध्य है और स्वयं साधन भी,
जिसमें अभाव है नहीं, नहीं अति भी है—
इसने निज में है वह विद्रोही पाला !

४६

अतीत

सजनि, वह और जीवन था!
व्यथा थी, विषम बन्धन था!

करुण इन भग्न आहों में,
दुखों का नग्न नर्तन था
छिपा इन मौन नयनों में
हृदय का करुण क्रन्दन था
सघन-घन-भावनाओं में
विकल अति विरह-गर्जन था
अमर कुछ वेदना पा जी
रहा यह हृदय-स्पन्दन था

सजनि वह एक चिर-धन था,
कि तपता स्वर्ण यौवन था!
सजनि, वह और जीवन था!
व्यथा थी, विषम बन्धन था!

मिटा संसार निज, मैंने
नया संसार पाया था,
जहाँ थी वेदना रानी,
रुदन का प्यार पाया था,
जहाँ मुँह खोलने तक का
नहीं अधिकार पाया था
हँसी अपनी लुटाकर
करुण हाहाकार पाया था

जहाँ प्रिय नित्य नूतन था!
हमारा एक रस मन था!
सजनि, वह और जीवन था!
व्यथा थी, विषम बन्धन था!

बिछाकर चाँदनी को विश्व
जब अभिसार करता था
तभी रूठे हृदय का कवि
सदा मनुहार करता था
जगत सारा जहाँ पर प्यार
लेकर प्यार करता था
वहीं कवि प्यार देकर भी
न कुछ अधिकार करता था

यही इस प्रेम का प्रण था !
हमारा हृदय निर्धन था !
सजनि, वह और जीवन था !
व्यथा थी, विषम बन्धन था !

लिखा जब चार आँखों ने
मधुर इतिहास मेरा था
उमड़ कर वह चला रोका—
हुआ उल्लास मेरा था
जिसे इस विश्व ने समझा
विफल आयास मेरा था
वही अन्तिम घड़ी में फल—
गया विश्वास मेरा था।

अमर वह एक ही क्षण था,
बसा जिसमें न सावन था !
सजनि, वह और जीवन था !
व्यथा थी, विषम बन्धन था !

५०

तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

क्यों शशि ने निशि भर चूम-चूम
वसुधा का मधु-शृङ्गार किया,
क्यों भ्रमरी ने सुमनों के उर में
दिन भर मधु-गुंजार किया
बज उठी प्रात ही क्यों तरु की
डाली-डाली में शहनाई
जीवन की चढ़ती बेला में
क्यों मैंने जी भर प्यार किया,
किसको कहते हैं प्यार, इसे
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

क्यों रवि ने कर से बाँध दिशा—
परियों का मधुराधर चूमा,
क्यों कलियों के तन में अँगड़ाई
भर मदमस्त पवन झूमा,
अमराई की हरियाली में क्यों
पागल पिक भी कूक उठा
क्यों ले मस्ती का भार नवल
मैं जीवन के पथ पर घूमा,
जीवन की इस गहराई को
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

कारा क्यों कल बन गयी शाम—
को मधुपों की वह मधुशाला,
जल गई दीप के अधर चूम
कर क्यों कल रात शलभ-बाला
अम्बर से लिपट-लिपट रोयी क्यों
पल भर आज उषा प्यारी !
क्यों क्षण भर पहले बिखरी मेरे
नयनों की मोती-माला,
उर-उर का यही रहस्य, इसे
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

रोते घन के उर में सोकर क्यों
हँसती है विद्युतबाला,
घन - क्रन्दन पर कर रहा नृत्य
क्यों मधुर कलापी मतवाला
पी कहाँ रुदन से क्यों मर्मर् का
गान जी उठा द्रुम - द्रुम में
भर रहा मधुर मुसकान छन्द में
क्यों मैं चिरआहों वाला,
लघु जीवन का इतिहास यही
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

मैं जान रहा, मधुऋतु क्यों लेकर
आती है मस्तानापन
मैं जान रहा, पतझार लिए क्यों
आता है वीरानापन,
मिट्टी के इस पुतले से मेरी
जान नहीं पहचान नहीं
पर जान रहा, क्यों जीवन में ले
आया मैं इतनी उलझन,
है अमर प्रेम, है अमर पीर,
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

कल भी होगी ऊषा, होगा
अवगुण्ठन में मुसकाना भी
कल भी बुलबुल इठलायेगी
छेड़ेगी मधुर तराना भी,
कल भी चटकेंगी कलियाँ भर-भर
मधु पराग वाली झोली
कल भी मैं प्यार करूँगा,
रोऊँगा, गाऊँगा गाना भी,
कल की सीमा है सान्त नहीं,
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

युग-युग में होगी यही कथा
युग-युग में होगा यह गाना,
युग-युग में होगा हास, रुदन,
मरना, जीना, आना, जाना,
युग-युग में होगी शमा और
युग-युग में होंगे परवाने
युग-युग तक विरह-मिलन की गाथा
गाऊँगा मैं दीवाना,
तन धूल बने, मैं अमरप्राण
तुम जान न पाओगी सुन्दरि !

है अमर विश्व में सुन्दरता
है और अमर उसका ज्ञानी,
है अमर प्रेम करनेवाला
है अमर प्रेम का ही दानी
मैं यही जानता, और जानने
की मुझको कुछ चाह नहीं
है अमर प्रेम की पीर और
है अमर प्रेम का कवि मानी
जीवन की सीधी राह यही
तुम न जान पाओगी सुन्दरि !

५१

कृषक-वधू

मैं प्रकृति की कल किशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला !
भू - गगन के इस परम
उन्मुक्त आँगन में पली मैं
वन-लता की सरलता के
सहज साँचे में ढली मैं
गाँव की लघु परिधि में थी
घूमती वन-बालिका सी
मुसकुराहट ले सुधा सी
अब खिली सी हूँ कली मैं
प्राणप्रिय के नयन - चातक
की बनी शशि-किरण-माला
मैं प्रकृति की कल किशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला !

वे कहा करते कि उनके
झोपड़े की हूँ परी मैं
और भूखे स्वर्ग की
उनके बनी हूँ किन्नरी मैं
इस गरीबी का बना
जीवन हमारा अगम सागर
प्राणप्रिय हैं सफल नाविक
और उनकी चिर तरी मैं
दुख पिलाती है गरीबी,
हम कहा करते कि ला ला,
मैं प्रकृति की कल किशोरी
शशि - कला सी कृषक-बाला !

वे जभी सुनते मुखर इन
चूड़ियों की मधुर वानी
भूल जाते हाय, इस घर
की गरीबी की कहानी
देखती जब मैं मुकुर में
भाल की सिन्दूर-रेखा,
भूल सब दुख समझती क्षण-
भर कि मैं हूँ राजरानी,

इस गरीबी की निशा में
ढूँढ़ती सुख का उजाला,
मैं प्रकृति की कल किशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला।

हाथ में लोटा लिये, सिर-
पर किये कर, थाम थाली
खेत मैं जाती जहाँ प्रिय
हल चलाते पेट खाली,
रूप पीते साथ ही, वे
रोटियाँ रूखी न खाते
प्राणप्रिय के खेत-घर-उर-
मानसर की मैं मराली,

इस गरीबी की दशा में
भी छकी पी प्रेम-प्याला,
मैं प्रकृति की कलकिशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला!

खूँटकर आँचल कमर में
खेत मैं प्रिय सँग निरावी
क्या कहूँ हँसती हँसाती
कौन मैं आनन्द पाती!

मान होता है वहीं
मनुहार होता है वहीं पर,
रूठती मैं वे मनाते,
रूठते वे मैं मनाती,
इस तरह हैं बीतते दिन
बीत जाता दुख-कसाला,
मैं प्रकृति की कलकिशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला!

हाथ में हँसिया लिए मैं
काटने को खेत जाती
वे सुना करते, मधुर कुछ
गुनगुना मैं गीत गाती,
और कोई वृद्धजन
आता वहाँ यदि गाँव वाला
तो झपट मैं काढ़ घूँघट
सरल मुख अपना छिपाती
वे चिढ़ाते कह कि पड़ जाये
कमल-कर में न छाला!
मैं प्रकृति की कलकिशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला!

गुनगुनाती सान्ध्य गीतों
को किवाड़े से लगी मैं
जोहती हूँ बाट अपलक
प्रेम में प्रिय के ठगी मैं,
'आ रहे होंगे, खिलाऊँगी–
उन्हें क्या, है नहीं कुछ,'
ढुलक पड़ते पलक से आँसू
छलक, दुख में पगी मैं,
प्रेम के जल से बुझेगी
हाय कब तक उदर-ज्वाला!
मैं प्रकृति की कलकिशोरी
शशि-कला सी कृषक-बाला!